सामाजिक न्याय हेतु जरूरी है आरक्षण

राम शिवमूर्ति यादव

आरक्षण का मुद्दा आरम्भ से ही लोगों को उद्वेलित करता रहा है। कुछ लोग इसे योग्यता, अवसर की समानता व रोजगार से जोड़कर देखते हैं, तो कुछ के लिए यह निर्णय में भागीदारी से सम्बन्धित है। वस्तुतः आरक्षण किसी न किसी रूप में भारतीय समाज में प्राचीन काल से ही मौजूद रहा है। परम्परागत वर्ण व्यवस्था में इसके बीज खोजे जा सकते हैं, जहां ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सभी के कर्म निर्धारित कर दिए गए थे। यही कारण था कि भगवान राम ने शम्बूक का वध इसलिए कर दिया कि वह शूद्र होकर तपस्या कर रहा था। महाभारत काल में गुरु द्रोणाचार्य ने एकलव्य को शूद्र होने के कारण शिक्षा देने से मना कर दिया और जब उन्हें अहसास हुआ कि एकलव्य अर्जुन से भी बड़ा वीर है, तो उन्होंने गुरूदक्षिणा की आड़ में उसके हाथ का अंगूठा ही मांग लिया। स्पष्ट है कि वर्ण व्यवस्था रूपी विशेषाधिकारों की आड़ में उच्च वर्ण के लोगों ने पिछड़ों और दलितों को शिक्षा से वंचित करने का षड्यंत्र रचा और उन्हें वेद ज्ञान तथा आधुनिक शिक्षा से वंचित रखा। निश्चिततः, ऐसी अमानवीय व्यवस्था के बीच पिछड़ा और दलित वर्ग कैसे ऊपर उठ सकता था? कालान्तर

में ऐसे वंचित वर्गों को थोड़ी विशेष सुविधा देकर विभिन्न सरकारों ने उनका जीवन स्तर उठाने और अन्य वर्गों के समकक्ष खड़ा करने का प्रयास किया। इस हेतु सर्वप्रथम महाराष्ट्र की कोल्हापुर रियासत द्वारा पहल की गई। कालान्तर में मैसूर रियासत, बम्बई प्रेसीडेंसी, मद्रास एवं त्रावणकोर रियासतों ने इस पहल को आगे बढ़ाया। जाति–पांत और छुआछूत की भावना उस समय इतनी प्रबल थी कि समाज के उच्च वर्गों ने इसका तीव्र विरोध किया। इसी प्रकार अंग्रेजी राज में वर्ष 1882 में जब हण्टर आयोग ने बहुत छोटे स्तर पर अछूतों के लिए प्राथमिक शिक्षा की सिफारिश की तो उच्च वर्ग के लोगों ने उसका भी विरोध किया और इन तबकों के छात्रों को स्कूल से बाहर रखने के लिए तरह-तरह के हथकण्डे अपनाए। वर्ष 1892 में पब्लिक सर्विस कमीशन ने द्वितीय श्रेणी के 941 पदों में 159 पद भारतीयों के लिए आरक्षित किए। वर्ष 1906 में मुसलमानों के लिए पृथक निर्वाचन मण्डल और तत्पश्चात वर्ष 1935 में पूना पैक्ट के माध्यम से केन्द्रीय और राज्य विधानमण्डलों में अनुसूचित जाति व जनजाति के लिए सीटों के आरक्षण की व्यवस्था को भी इसी क्रम में देखना उचित होगा।

पिछड़े वर्गों को सरकारी सेवाओं में आरक्षण भी अंग्रेजों के समय की देन है। 20 वीं सदी के आरम्भ में तमिलनाडु में पेरियार द्वारा आरम्भ स्वाभिमान आन्दोलन के कारण तमिलनाडु में पिछड़े वर्गों के लिए आरक्षण की व्यवस्था की गई। पर स्वतन्त्रता पश्चात किसी संवैधानिक प्रावधान के अभाव में इस आरक्षण को न्यायालय ने अवैध घोषित कर दिया। नतीजन, तमिलनाडु में आन्दोलन भड़क उठा एवं प्रतिक्रियास्वरूप संविधान सभा जो कि उस समय संसद के रूप में काम कर रही थी ने वर्ष 1951 में संविधान में प्रथम संशोधन कर सामाजिक एवं शैक्षणिक रूप से पिछड़े वर्गों के लिए आरक्षण का प्रावधान कर दिया। इन पिछड़े वर्गों की पहचान के लिए अनुच्छेद 340 के अन्तर्गत 29 जनवरी 1953 को राष्ट्रपति ने प्रख्यात गांधीवादी विचारक काका कालेलकर के नेतृत्व में प्रथम पिछड़ा वर्ग आयोग गठित किया, जिसने पिछड़े वर्गों में महिलाओं को भी शामिल करते हुए केन्द्र की सरकारी सेवाओं और शैक्षणिक संस्थाओं में 2399 जातियों को पिछड़े वर्ग के रूप में सूचीबद्ध करते हुए 70 प्रतिशत आरक्षण की सिफारिश के साथ 30 मार्च 1955 को अपनी रिपोर्ट सौंप दी पर तत्कालीन सरकार ने इस रिपोर्ट को ही खारिज कर दिया। यद्यपि सरकार ने इस रिपोर्ट को खारिज कर दिया था पर डॉ0 राम मनोहर लोहिया के नेतृत्व में समाजवादियों ने "पिछड़ा पावे सौ म साठ" के नारे के साथ पिछड़े वर्गों के लिए आन्दोलन जारी रखा। डॉ0 लोहिया पांच वर्गों को पिछड़ा मानते थे–सभी जाति की महिलाएं, हरिजन, आदिवासी, पिछड़ी जातियां एवं धार्मिक अल्पसंख्यक वर्ग। वर्ष 1977 में केन्द्र में प्रथम गैर कांग्रेसी सरकार के अस्तित्व में आने के साथ ही उत्तर प्रदेश में राम नरेश यादव और बिहार में कर्पूरी ठाकुर ने राज्य स्तर पर पिछड़ों को आरक्षण दे डाला। यद्यपि जनता पार्टी सरकार ने अपने चुनावी घोषणा पत्र में काका कालेलकर आयोग की सिफारिशों को लागू करने की बात कही थी पर सत्ता में आने के बाद इसे इस आधार पर अस्वीकार कर दिया कि 1950 के दशक में तैयार पिछड़े वर्गों की सूची पुरानी पड़ गई है। इसके पश्चात जनता पार्टी ने 20 दिसम्बर 1978 को बिहार के भूतपूर्व मुख्यमंत्री श्री बिन्देश्वरी प्रसाद मण्डल के नेतृत्व में दूसरे पिछड़े वर्ग आयोग का गठन किया, जिसने 31 दिसम्बर 1980 को अपनी रिपोर्ट सौंप दी। मण्डल आयोग ने काका कालेलकर आयोग की सूची और सिफारिशों को लगभग ज्यों का त्यों अपनी रिपोर्ट में शामिल कर लिया और 404 पृष्ठों की अपनी रिपोर्ट में देश की 52 प्रतिशत जनता को पिछड़ा बताया तथा 3743 जातियों की पहचान पिछड़ी जातियों के रूप में की। पिछड़ेपन के निर्धारण के लिए आयोग ने जाति समेत 11 कसौटियों को अपनाया और सरकारी नौकरियों के साथ–साथ शैक्षणिक संस्थाओं में भी 27 प्रतिशत आरक्षण की

सिफारिश की। ऐसा माना जाता है कि वर्ष 1931 में जाति आधारित अन्तिम जनगणना को मण्डल कमीशन ने पिछड़ी जातियों की शिनाख्त का आधार बनाया।

यहां पर गौरतलब है कि सर्वोच्च न्यायालय ने भी समय-समय पर आरक्षण का आधार जाति को ही माना है। सर्वप्रथम वेंकटरामन्ना बनाम मद्रास केस में सर्वोच्च न्यायालय ने जाति को पिछड़ेपन का आधार ठहराया। फिर 1968 में पी. राजेन्द्रम बनाम मद्रास केस में भी सर्वोच्च न्यायालय ने आरक्षण के जातिगत आधार को मान्यता प्रदान की। इसी प्रकार अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के आयुक्त ने वर्ष 1967-68 के अपने प्रतिवेदन में कहा कि -"जाति ही पिछड़े वर्ग का आधार होना चाहिए।" अगस्त 1990 में तत्कालीन प्रधानमंत्री वी. पी. सिंह ने मण्डल कमीशन की सिफारिशों के आधार पर सरकारी नौकरियों में अन्य पिछड़े वर्गों के लिए 27 प्रतिशत आरक्षण लागू करने की घोषणा की तो कई लोग इसे योग्यता का हनन बताते हुए सर्वोच्च न्यायालय की दहलीज तक पहुंच गए। अन्ततः इन्द्रा साहनी बनाम भारत संघ के मामले में 16 नवम्बर 1992 को सर्वोच्च न्यायालय ने क्रीमी लेयर को इससे बाहर रखने की बात करते हुए अन्य पिछड़े वर्गों के लिए 27 प्रतिशत आरक्षण को वैधानिक घोषित कर दिया। उक्त निर्णय के तारतम्य में संघ सरकार ने 8 सितंबर, 1993 को जारी अधिसूचना में न्यायालय के उपर्युक्त निर्णय को स्वीकार कर लिया। तत्पश्चात् सरकार द्वारा क्रीमी लेयर की पहचान और मंडल आयोग की सिफारिशों पर अमल के साथ ही आरक्षण के प्रथम भाग का पटाक्षेप हो गया पर शैक्षणिक संस्थाओं में आरक्षण न लागू करने के कारण कुछ लोगों ने इसे 'बधिया आरक्षण' भी कहा।

वस्तुतः आरक्षण सामाजिक न्याय की प्रक्रिया का एक अभिन्न अंग है और उसे इसी रूप में देखा जाना चाहिए। सवाल पैदा होता है कि आखिर आरक्षण का विरोध क्यों हो रहा है और क्या इसके पीछे उठते सवाल वाजिब हैं-

1. आरक्षण विरोधियों का मानना है कि आरक्षण 'अवसर की समता' (अनुच्छेद-16 (1) के संवैधानिक उपबन्धों का उल्लंघन है।

-ऐसा कहना गलत है क्योंकि उसी अनुच्छेद में यह भी लिखा गया है कि-"इस अनुच्छेद की कोई बात राज्य को पिछड़े हुए नागरिकों के किसी वर्ग के पक्ष में, जिनका प्रतिनिधित्व राज्य की राय में राज्य के अधीन सेवाओं में पर्याप्त नहीं है, नियुक्तियों या पदों के आरक्षण के लिए उपबन्ध करने से निवारित नहीं करेगी।" (अनुच्छेद-16 (4)। तथ्यों पर गौर करें-23 फरवरी 2006 तक सरकार को प्राप्त सूचना के अनुसार आई.ए.एस. और आई.पी.एस. में मात्र 7.02 प्रतिशत और भारतीय विदेश सेवा में मात्र 7.74 प्रतिशत पिछड़े वर्ग के लोग थे। इसी प्रकार पूर्व अधिकारी के. बी. सक्सेना के नेतृत्व वाली मानवाधिकार आयोग की रिपोर्ट पर गौर करें तो विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा अनुदान प्राप्त कुल 256 विश्वविद्यालयों और 11000 महाविद्यालयों में मात्र 2 प्रतिशत शिक्षक दलित और आदिवासी हैं और सभी आई.आई.टी. में कुल 3 दलित और आदिवासी हैं, लेकिन वे भी आरक्षण की बजाय वहां पर अपनी योग्यता से पहुंचे हैं।

(2) आरक्षण विरोधियों के मत में किसी भी प्रकार के आरक्षण को उचित नहीं ठहराया जा सकता।

-अप्रवासी भारतीयों के लिए आरक्षित सीटों पर तो तब सर्वप्रथम प्रश्नचिन्ह लगना चाहिए, पर क्यों नहीं लगाया जाता? कारण, अप्रवासी के नाम पर यहां साधन संपन्न सवर्ण वर्ग ही बिना किसी योग्यता और परिश्रम के पूंजी के बल पर सीटें हथिया रहा है। यदि हर प्रकार के आरक्षण का विरोध करना ही है तो फिर सवर्ण आर्थिक आधार पर आरक्षण की मांग क्यों करते हैं? तब तो फिर सामाजिक व्यवस्था में भी परंपरागत आरक्षण को खत्म कर देना चाहिए। मसलन, पूजा-पाठ करवाने का कार्य ब्राह्मण जाति ही क्यों करे और जूतों के सिलने, पालिश लगाने व झाडू लगाने का कार्य पिछड़े

व दलित ही क्यों करें? यहां पर गौर करने लायक बात है कि आरक्षण विरोधी शक्तियां आरक्षण लागू होने के नाम पर सड़कों पर खड़ी गाड़ियों को साफ करने, जूते साफ करने और झाड़ू लगाने जैसे प्रतीकात्मक कार्य करके विरोध दर्ज कराती हैं क्योंकि उन्हें लगता है कि ये कार्य निम्न स्तर के हैं। जब तक समाज में ऐसी विभेदकारी हीन मानसिकता रहेगी तब तक आरक्षण को अनुचित नहीं ठहराया जा सकता।

(3) आरक्षण विरोधियों के मत में संविधान पिछड़े वर्गों के लिए आरक्षण का प्रावधान करता है, जातियों के लिए नहीं।

—भारत जैसे परम्परागत देश में जातियां स्वयं में एक वर्ग है। परम्परागत वर्ण व्यवस्था को भी देखें तो असंख्य जातियों को 4 वर्गों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में बांट दिया गया था। फिर स्वयं सर्वोच्च न्यायालय ने भी मान लिया है कि भारत में जाति ही वर्ण है, इसलिए विवाद की कोई गुंजाइश नहीं रह जाती। इन्द्रा साहनी बनाम भारत संघ (1992) के केस में सर्वोच्च न्यायालय ने कहा था कि—"पिछड़े हुए नागरिकों का वर्ग"—इस पद की संविधान में कोई परिभाषा नहीं दी गई है। जाति, उपजीविका, निर्धनता और सामाजिक पिछड़ापन का निकट का सम्बन्ध है। भारत के सन्दर्भ में निचली जातियों को पिछड़ा माना जाता है। जाति अपने आप ही पिछड़ा वर्ग हो सकती है। हिन्दू समाज में पिछड़े वर्ग की पहचान जाति के आधार पर की जा सकती है।"

(4) आरक्षण विरोधियों के मत में पहले सामाजिक पिछड़ेपन को परिभाषित करने के लिए यह देखा जाता था कि किसी जाति विशेष का जाति व्यवस्था में क्या स्थान है? मसलन शास्त्रों में किन्हें शूद्र कहा गया है और किन्हें द्विज। लेकिन अब सामाजिक पिछड़ेपन का आधार राजनीतिक सशक्तीकरण का अभाव हो गया है और इस आधार पर यादव इत्यादि जैसी जातियों को पिछड़े वर्गों से निकाल देना चाहिए।

—यह मात्र 1990 का दौर था जब उत्तर भारत में कुछ पिछड़ी जातियों के व्यक्ति मुख्यमंत्री पद पर पदासीन हुए पर वो भी एक लम्बे समय के लिए नहीं। उनमें से भी अधिकतर अपनी प्रतिभा और राजनैतिक चातुर्य के चलते वहां तक पहुंचे, पर यह तो अभी शुरूआत मात्र है। स्वतन्त्रता पश्चात लगभग छः दशकों में पिछड़ों की राजनैतिक सत्ता में कुल प्रतिनिधित्व की बात करें तो यह दहाई अंक भी नहीं छू पाएगा, अतः यह तर्क भी असंगत लगता है। पिछड़ों और दलितों की राजनैतिक भागीदारी पर सवर्ण जातियों के कुछ जुमलों पर गौर करें तो स्थिति अपने आप स्पष्ट हो जाती है। वर्ष 1978 में तत्कालीन केन्द्रीय मंत्री श्री जगजीवन राम जब बनारस में सम्पूर्णानन्द की प्रतिमा का अनावरण करने गये तो सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के सवर्ण छात्रों ने "जग्गू चमरा हाय—हाय—बूट पालिश कौन करेगा" जैसे भद्दे जातिगत नारों से उनका स्वागत किया और इतना ही नहीं उनके जाने के बाद उस मूर्ति को वेद मंत्रों के उच्चारण के साथ गंगा जल से धोया, क्योंकि सवर्ण छात्रों के मत में एक दलित द्वारा छू लेने के कारण यह मूर्ति अपवित्र हो गयी थी। वर्ष 1977-78 में उत्तर प्रदेश में श्री रामनरेश यादव के मुख्यमंत्री बनने पर सवर्णों ने जुमला कसा कि—"रामनरेश यादव वापस जाओ, डण्डा लेकर भैंस चराओ।" ठीक यही नारे कालान्तर में श्री मुलायम सिंह यादव और श्री लालू प्रसाद यादव के मुख्यमंत्री बनने पर भी दुहराए गए। बिहार में श्री कर्पूरी ठाकुर के मुख्यमंत्री बनने पर नारा दिया गया—"कर्पूरी कर, वरना उठा छूरा।" इन परिस्थितियों में कैसे मान लिया जाय कि दलितों और पिछड़ों को इतनी राजनैतिक भागीदारी मिल चुकी है कि उन्हें आरक्षण से वंचित कर देना चाहिए। यही बात मीडिया के बारे में भी कही जा सकती है। आखिर क्या कारण है कि मीडिया एकतरफा आरक्षण विरोध के कवरेज को बढ़ा—चढ़ा कर पेश करता है और आरक्षण समर्थक आन्दोलनों को परे

धकेल देता है। निशिचततः आज लोकतन्त्र के इस चतुर्थ स्तम्भ में भी आरक्षण की जरूरत महसूस होने लगी है।

(5) आरक्षण विरोधियों के मत में क्रीमीलेयर वर्ग को आरक्षण नहीं मिलना चाहिये।

–आरक्षण का उद्देश्य ही पिछड़ों और दलित वर्गों में एक क्रीमीलेयर वर्ग पैदा करना है जो सदियों से उपेक्षित और शोषित इन वर्गों की लड़ाई लड़ सके। उच्च जातियां जब आरक्षण का खुलकर विरोध नहीं कर पाती तो वे पिछड़ों और दलितों के बीच उभर रहे क्रीमीलेयर की आड़ में इसका विरोध करती है। उच्च जातियां इस तथ्य को बर्दाश्त नहीं कर पातीं कि पिछड़ों और दलितों के बीच एक ऐसा क्रीमीलेयर वर्ग उत्पन्न हो जाये जो उन सुख–सुविधाओं को उपभोग करने लगे, जिस पर अभी तक इन उच्च जातियों का वर्चस्व रहा है।

(6) आरक्षण विरोधियों के मत में आरक्षण का आधार आर्थिक होना चाहिए।

–आरक्षण सामाजिक स्थिति सुधारने का एक उपाय है न कि आर्थिक स्थिति। आरक्षण का मामला मात्र रोजगार का नहीं वरन् सामाजिक समानता और भागीदारी का है। आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए तो तमाम आर्थिक कल्याणकारी योजनाओं को ईमानदारी से लागू किया जा सकता है और गरीबी हटाओ जैसे नारों को क्रियान्वित किया जा सकता है।

(7) आरक्षण विरोधियों के मत में आरक्षण जैसी व्यवस्था भारत को विकसित देशों की श्रेणी में जाने से रोकेगी।

–स्वयं अमेरिका जैसे सर्वाधिक विकसित देश में 'डायवर्सिटी सिद्धान्त' के आधार पर अश्वेतों के लिए आरक्षण लागू है।

(8)आरक्षण विरोधियों के मत में आरक्षण व्यवस्था समानता एवं योग्यता हनन के लिए एक षड्यंत्र है।

–आरक्षण के विरोध में सबसे सशक्त तर्क यही दिया जाता रहा है पर यह तर्क देने वाले भूल जाते हैं कि समता बराबर के लोगों में ही आती है। जब तक तराजू के दोनों पलड़े बराबर न हों, उनमें बराबरी की बात करना ही व्यर्थ है। क्या इस निष्कर्ष को खारिज करना सम्भव है कि उच्च व तकनीकी संस्थानों में सवर्ण जातियों का वर्चस्व है। नेशनल सर्वे आर्गेनाइजेशन के आंकड़ों पर गौर करें तो तो ग्रामीण भारत में 20 साल के ऊपर के स्नातकों में अनुसूचित जातियों, जनजातियों और मुस्लिमों का प्रतिशत मुश्किल से एक फीसदी है, जबकि सवर्ण स्नातक पांच फीसदी से अधिक हैं। सवर्ण अपने पक्ष में तर्क दे सकते हैं कि ऐसा सिर्फ उनकी योग्यता के कारण है पर वास्तव में 'योग्यता' का राग अलापना निम्न तबके को वंचित रखने की साजिश मात्र है। इस बात पर भी चर्चा होनी चाहिये कि सवर्णों को बचपन से ही शिक्षा, समाजीकरण का फायदा मिला और संसाधनों पर पहला हक उनका ही रहा। यदि योग्यता एक सहज एवं अन्तर्जात गुण है तो अन्य वर्गों के लोगों में भी है, पर फिर भी वे इस स्तर तक नहीं पहुंच पाए तो दाल में कुछ काला अवश्य है। अर्थात, वे इतने साधन सम्पन्न नहीं हैं कि प्रगति कर सकें, विभिन्न प्रशासकीय और राजनैतिक पदों पर बैठे उच्च वर्णों के भाई–भतीजावाद का वे शिकार हुए हैं, प्रारम्भिक स्तर पर ही सवर्णों ने उन्हें सामाजिक हीनता का अहसास कराकर आगे बढ़ने नहीं दिया। ऐसे में यदि सवर्णों के विचार से 'योग्यता' की निर्विवाद धारणा महत्वपूर्ण है, जो उस सामाजिक संरचना की ही अनदेखी करता है, जिसकी बदौलत स्वयं उनका अस्तित्व है, तो निम्न वर्ग या आरक्षण के पक्षधरों के अनुसार योग्यता को ही पूर्णरूपेण से नजर अंदाज कर देना चाहिए क्योंकि यह योग्यता की आड़ में एक विशिष्ट वर्ग को बढ़ावा देने की नीति मात्र है। आज की योग्यता थोपी गई योग्यता है। योग्यता के मायने तब होंगे जब सभी को समान परिस्थितियां मुहैया कराकर एक निश्चित मुकाम तक पहुंचाया जाये एवं फिर योग्यता की बात की जाए। योग्यता की आड़ में सामाजिक न्याय को भोथरा नहीं बनाया जा सकता है।

(9) आरक्षण विरोधियों के मत में आरक्षण व्यवस्था एक निश्चित समय के लिए लागू की गई थी, पर राजनेताओं ने निहित स्वार्थों के लिए इसे और आगे बढ़ाया।

—यदि आजादी के छः दशकों बाद भी आरक्षण का दायरा घटाने की बजाय बढ़ाने की जरूरत पड़ रही है तो इसका सीधा सा अर्थ है कि संविधान के सामाजिक न्याय सम्बन्धी निर्देशों का पालन करने में हमारी संसद विफल रही है। राजनैतिक सत्ता के शीर्ष पर अधिकतर सवर्णों का ही कब्जा है। ऐसे में अगर वे स्वयं आरक्षण का दायरा बढ़ाना चाहते हैं तो देर से ही सही पर उन्हें पिछड़ों और दलितों की शक्ति का अहसास हो रहा है न कि स्वार्थ के वशीभूत वे पिछड़ों और दलितों पर कोई अहसान कर रहे हैं, क्योंकि आरक्षण संविधानसम्मत प्रक्रिया है।

(10) आरक्षण विरोधियों के मत में भारत का लक्ष्य जातिविहीन समाज होना चाहिए और आरक्षण जैसी व्यवस्था से जातिवाद को बढ़ावा मिलता है।

—यह एक सुसंगत आदर्श है, पर इसके क्रियान्वयन पर भी गौर करना चाहिए। समाज की 85 प्रतिशत जातियों को बिना किसी भेदभाव के व्यवस्था में ज्यादा प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए और 15 प्रतिशत जातियों की 95 प्रतिशत भागीदारी को तोड़ना चाहिए। यहीं क्यों, तथाकथित सवर्ण जातियों को झाड़ू लगाने और बूट पालिश करने जैसे कार्यों के लिए भी तैयार रहना चाहिए तथा तथाकथित निम्न जातियों को अपने घर पर पूजा—पाठ सम्पन्न कराने के लिए भी बुलाना चाहिए क्योंकि अब सामाजिक समुदायों की जन्मजातहीनता की दलील कतई स्वीकार्य नहीं। स्वयं तत्कालीन प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू ने प्रवेश पत्र से जाति का खाना हटवा दिया था पर क्या हुआ?

(11) आरक्षण विरोधियों के मत में आरक्षण को लागू करना लोकतांत्रिक मूल्यों के विपरीत है।

—लोकतंत्र को एक ऐसी शासन प्रणाली के रूप में परिभाषित किया जाता है जहां जनता का, जनता के लिए, जनता द्वारा शासन होता है। यह खेद का विषय है कि स्वतंत्रता से पूर्व एवं स्वतंत्रता पश्चात भी भारत में कुछ जाति विशेष के लोगों का ही शासन रहा और अन्य जातियां उनकी अनुगामी मात्र बनी रहीं। क्या यह लोकतांत्रिक मूल्यों के अनुकूल है कि समाज के बहुमत वर्ग का राजनैतिक—सामाजिक—प्रशासनिक प्रणाली में प्रतिनिधित्व नाममात्र को हो और अल्पमत जातियों का पूर्ण वर्चस्व हो—निश्चिततः नहीं! इसी विसंगति को सुधारने के लिए आरक्षण लागू करना अपरिहार्य हो जाता है।

(12) आरक्षण विरोधियों के मत में आरक्षण के माध्यम से किसी जाति या वर्ग के अधिकार को छीनने का हक किसी भी सरकार को नहीं है।

—चूंकि पिछड़ी और दलित जातियां व्यवस्था में समुचित भागीदारी के अभाव में अपनी आवाज उठाने में सक्षम नहीं हैं अतः कल्याणकारी राज्य की अवधारणा के तहत सरकार का कर्तव्य है कि इन उपेक्षित वर्गों को व्यवस्था में निर्णय की भागीदारी में उचित स्थान दिलाये। इसे किसी का अधिकार छीनना नहीं वरन् समाज के हर वर्ग को उचित प्रतिनिधित्व देना कहा जायेगा।

वस्तुतः आज आरक्षण समाज को पीछे धकेलने की नहीं वरन् पुरानी कमजोरियों और बुराईयों को सुधार कर भारत को एक विकसित देश बनाने की ओर अग्रसर कदम है। यह लोकतंत्र की भावना के अनुकूल है कि समाज में सभी को उचित प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए और यदि किन्हीं कारणों से किसी वर्ग को उचित प्रतिनिधित्व नहीं मिल पाता है तो उसके लिए समुचित आरक्षण जैसे रक्षोपाय करने चाहिए। सामाजिक समरसता को कायम करने और योग्यता को बढ़ावा देने के लिए जरूरी है कि 'अवसर की समानता' के साथ-साथ 'परिणाम की समानता' को भी देखा जाए। देश में दबे, कुचले और पिछड़े वर्ग को अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन करने का मौका

नहीं मिला, मात्र इसलिए ये वर्ग अक्षम नज़र आते हैं। इन्हें सरसरी तौर पर अयोग्य ठहराना सामाजिक न्याय के सिद्धान्तों के प्रतिकूल है। शम्बूक और एकलव्य जैसे लोगों की प्रतिभा को कुटिलता से समाप्त कर उनकी कीमत पर अन्य की प्रगति को उचित नहीं ठहराया जा सकता।

1990 के दशक में लागू आरक्षण की काट के लिए तुरंत आर्थिक उदारीकरण को एक अपरिहार्यता के रूप में देश पर थोप दिया गया। उसके बाद से राज्य निरंतर अपना कार्यक्षेत्र सीमित करता जा रहा है। सार्वजनिक क्षेत्रों को विनिवेश के माध्यम से निजी हाथों में सौंपा जा रहा है, सरकारी सेवाओं में अवसर कम हो रहे हैं, पेंशन जैसी व्यवस्थाओं को खत्म कर सरकारी नौकरियों को आकर्षणहीन बनाया जा रहा है—निश्चिततः ऐसे में निजी क्षेत्र में भी आरक्षण की जरूरत महसूस होने लगी है। राष्ट्र की इतनी बड़ी जनसंख्या को संसाधन और अधिकारविहीन रखना राष्ट्र की प्रगति, विकास एवं समृद्धि के लिए अहितकर है। तकनीकी योग्यता के लिए क्षमतावान विद्यार्थियों के सामने उच्च शैक्षणिक संस्थाओं की अंग्रेज़ी भाषा और भारी भरकम खर्चे आड़े आते हैं, मात्र इसलिए वे उस व्यवस्था में प्रवेश नहीं कर पाते और हीनता का अनुभव करते हैं। ये कहना कि उनमें योग्यता का अभाव है, उचित नहीं होगा। ऐसी परिस्थितियों में उच्च शैक्षणिक संस्थाओं में आरक्षण की अनिवार्यता को समझा जा सकता है। आरक्षण को लेकर सवर्णों को यह आशंका हो सकती है कि इससे वे अलग-थलग पड़ जाएंगे और संसाधनों पर उनका पहला हक खत्म हो जाएगा, पर यदि राष्ट्र की अर्थव्यवस्था विकासोन्मुखी रही तो सिर्फ पिछड़ों और दलितों हेतु ही नहीं अपितु सवर्णों हेतु भी रोजगार के पर्याप्त अवसर उपलब्ध होंगे। प्रखर राष्ट्रवादी विचारक स्वामी विवेकानन्द ने एक बार कहा था—"जब वे (शूद्र) जागेंगे और आप (उच्च वर्ग) द्वारा अपने प्रति किए गए शोषण को समझेंगे तो अपनी फूंक से वे (शूद्र) आप (उच्च वर्ग) सबको उड़ा देंगे। यह शूद्र वे लोग हैं, जिन्होंने आपको सभ्यता सिखायी और ये ही लोग आपका पतन भी कर सकते हैं।" वर्तमान परिप्रेक्ष्य को इन अवधारणाओं के बीच ही समझने की जरूरत है अन्यथा समाज की प्रतिगामी शक्तियां तो अपने परंपरागत विशेषाधिकारों के लिए सदैव ही सामाजिक न्याय जैसी विस्तृत अवधारणा को मात्र रोजी-रोटी से जोड़कर उनका क्षुद्रीकरण करने की कोशिश करती रहेंगी।